शोधामृत
(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ISSN : 3048-9296 (Online)
3049-2890 (Print)
IIFS Impact Factor-4.0
Vol.-3; issue-2 (April-June) 2026
Page No- 264-269
©2026 Shodhaamrit
https://shodhaamrit.gyanvividha.com

Author's :

सूरज आर्य
शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़.

Corresponding Author :

सूरज आर्य
शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़.

भारतीय ज्ञान परम्परा में पर्यावरण संरक्षण

सार : भारतीय ज्ञान परम्परा में पर्यावरण संरक्षण का विचार अत्यंत प्राचीन, समृद्ध और समग्र दृष्टिकोण पर आधारित है। यह परम्परा प्रकृति को केवल संसाधन के रूप में नहीं, बल्कि जीवंत और पवित्र सत्ता के रूप में देखती है। वेद, उपनिषद, पुराण तथा स्मृतियों में प्रकृति और मानव के बीच संतुलन एवं सह-अस्तित्व पर विशेष बल दिया गया है। वर्तमान वैश्विक पर्यावरणीय संकट—जैसे जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, जैव-विविधता का ह्रास—के संदर्भ में भारतीय ज्ञान परम्परा के सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक हो उठते हैं।

इस शोध-पत्र का उद्देश्य भारतीय ज्ञान परम्परा में निहित पर्यावरणीय दृष्टिकोण का विश्लेषण करना तथा आधुनिक संदर्भ में उसकी उपयोगिता को रेखांकित करना है। यह अध्ययन गुणात्मक पद्धति पर आधारित है, जिसमें प्राचीन ग्रंथों एवं समकालीन शोध का विश्लेषण किया गया है। निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा पर्यावरण संरक्षण के लिए एक स्थायी एवं नैतिक आधार प्रदान करती है।

प्रस्तावना : पर्यावरण संरक्षण आज वैश्विक स्तर पर एक गंभीर चिंता का विषय बन चुका है। औद्योगिकीकरण, नगरीकरण और उपभोक्तावाद के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन हो रहा है, जिससे पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ता जा रहा है।भारतीय ज्ञान परम्परा, जो हजारों वर्षों से विकसित हुई है, पर्यावरण के प्रति एक संतुलित एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यहाँ प्रकृति को 'माता' के रूप में संबोधित किया गया है—

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"।[1]

इस परम्परा में पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या तकनीकी विषय नहीं, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक कर्तव्य है।

पर्यावरण का अर्थ : पर्यावरण शब्द सुनते ही हमारे मन में प्रकृति के समस्त घटक—जैसे पृथ्वी, सूर्य, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति, मिट्टी, पशु-पक्षी और मानव—का समग्र चित्र उभरता है। वास्तव में पर्यावरण उन सभी तत्वों का समूह है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जीवन को प्रभावित करते हैं।

पर्यावरण शब्द 'परि' तथा 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक √**वृ**धातु के साथ **ल्युट्** प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है– 'चारों ओर से ढका हुआ जहाँ 'परि' का अर्थ चारों ओर और 'आवरण' का अर्थ घेरा या आवरण है। इस प्रकार पर्यावरण का तात्पर्य उस समग्र परिवेश से है जो हमें चारों ओर से घेरता है और हमारे अस्तित्व को प्रभावित करता है।

इस व्यापक परिवेश में सजीव एवं निर्जीव दोनों प्रकार के तत्व सम्मिलित होते हैं। भूगोलविदों के अनुसार पर्यावरण को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

भौतिक तत्व: जैसे स्थलरूप, जल, जलवायु और मृदा, जो मानव जीवन की परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं।

जैविक तत्व: पौधे, जीव-जंतु, सूक्ष्मजीव और मानव, जो जीवमंडल का निर्माण करते हैं।

सांस्कृतिक तत्व: आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियाँ, जो मानव द्वारा निर्मित पर्यावरण को दर्शाती हैं।

पर्यावरणीय समस्याएँ : आधुनिक युग में पर्यावरणीय संकट की सबसे गंभीर विडंबना यह है कि इसका प्रमुख कारण स्वयं मानव बन गया है। जिस प्रकृति ने मानव सभ्यता को जन्म दिया, उसका पोषण किया और उसके अस्तित्व को संभव बनाया, उसी के अनियंत्रित दोहन और शोषण ने आज वैश्विक पर्यावरणीय असंतुलन को जन्म दिया है। विकास की अंधी दौड़ में मानव ने प्रकृति के साथ अपने संतुलित और सह-अस्तित्व वाले संबंधों को भुला दिया है, जिसके परिणामस्वरूप पारिस्थितिक तंत्र गहरे संकट में पड़ गया है।

वर्तमान समय में वायु, जल, भूमि तथा ध्वनि प्रदूषण जैसी समस्याएँ अत्यंत गंभीर रूप धारण कर चुकी हैं। औद्योगिकीकरण और नगरीकरण की तीव्र गति ने वायु गुणवत्ता को प्रभावित किया है, जहाँ कारखानों और वाहनों से उत्सर्जित हानिकारक गैसें वातावरण को विषैला बना रही हैं। इसी प्रकार, रासायनिक अपशिष्टों और अवैज्ञानिक कचरा प्रबंधन के कारण जल स्रोत प्रदूषित हो रहे हैं, जिससे न केवल जलीय जीवन बल्कि मानव स्वास्थ्य भी संकट में है। भूमि प्रदूषण, विशेष रूप से प्लास्टिक और विषैले रसायनों के कारण, कृषि उत्पादकता और जैव विविधता पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा है।

इस समग्र संकट के मूल में मानव की असीमित उपभोग प्रवृत्ति, संसाधनों का अविवेकपूर्ण उपयोग तथा अल्पदृष्टि विकास नीति निहित है। वर्तमान पीढ़ी प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इस प्रकार कर रही है मानो भविष्य की पीढ़ियों के अधिकार और अस्तित्व का कोई महत्व ही न हो। यह दृष्टिकोण न केवल नैतिक रूप से अनुचित है, बल्कि दीर्घकालिक रूप से आत्मविनाशकारी भी सिद्ध हो सकता है।

अतः यह स्पष्ट है कि पर्यावरणीय संकट केवल प्राकृतिक संसाधनों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मानव सभ्यता और उसके अस्तित्व के लिए एक गंभीर चुनौती है। इस संदर्भ में सतत विकास, संसाधनों के न्यायसंगत उपयोग और पर्यावरण संरक्षण के प्रति वैश्विक तथा व्यक्तिगत स्तर पर ठोस प्रयास अत्यंत आवश्यक हैं, जिससे मानव और प्रकृति के बीच संतुलन पुनः स्थापित किया जा सके।

वैदिक परंपरा में पर्यावरण की अवधारणा : वैदिक सभ्यता का प्रकृति के साथ अत्यंत घनिष्ठ, सम्मानपूर्ण और संतुलित संबंध रहा है। यह संबंध केवल उपयोग तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें कृतज्ञता, संरक्षण और अपनेपन की भावना भी निहित थी।

यद्यपि वेदों में 'पर्यावरण' शब्द का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु पर्यावरणीय विचारधारा का मूल आधार वेदों में ही निहित है। वेदों के विभिन्न सूक्तों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है, जो आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतों—जैसे बिग बैंग सिद्धांत—से भी साम्य रखता है।वेदों में सृष्टि के मूल तत्वों का उल्लेख मिलता है, जिनसे समस्त प्राकृतिक संसाधनों का विकास हुआ। विशेष रूप से पंचमहाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—को सृष्टि के आधारभूत तत्व माना गया हैं।

अथर्ववेद के भूमि सूक्त में जल तत्व पर विचार करते हुए उसकी शुद्धता को मानव-जीवन के लिए नितांत

आवश्यक माना गया है—

"शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु।"[2]

इस प्रकार भूमि में सरसता तथा पृथ्वी पर हरियाली के लिये जल-संरक्षण अपेक्षित है।

"वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु
भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥[3]

संसार की प्रत्येक वस्तु को अथर्ववेदीय ऋषि लोक कल्याण के लिये प्रयुक्त करना चाहता है। जल के लिये कहा गया है—

"शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभिस्त्रवन्तु नः॥"[4]

वेदों में यह बताया गया है कि सभी ऋतुओं का संतुलन बनाए रखना आवश्यक है, जिससे प्रकृति अनुकूल बनी रहती है।

उतो समह्यं इन्दुभिः षड्युक्तान्अनुसेधिषत्[5]

वायु को जीवन का आधार माना गया है, क्योंकि यह जीवों को जीवित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसलिए पर्यावरण के संतुलन के लिए वायु का संरक्षण अत्यंत जरूरी है। वायु वातावरण को शुद्ध करती है और इसके बिना जीवन संभव नहीं है।

वेदों में वायु की महत्ता का वर्णन करते हुए उसे पवित्र करने वाली शक्ति बताया गया है। चूँकि हम सभी जीव श्वास के लिए वायु पर निर्भर हैं, इसलिए वायुमंडल में आवश्यक गैसों का संतुलन बना रहना बहुत जरूरी है।

मह्यं वातः पवताम्[6]

पौधे और जीव-जंतु दोनों ही पर्यावरण के संतुलन में अहम भूमिका निभाते हैं। इसलिए इनका संतुलित अनुपात में रहना आवश्यक है। वेदों में वृक्षों की पूजा का भी उल्लेख मिलता है, जिससे उनकी महत्ता स्पष्ट होती है। वनदेवी अरण्यानी को समृद्धि और सभी वन्य जीवों की संरक्षिका के रूप में माना गया है। इसके साथ ही अथर्ववेद में वनों को मानव जीवन के लिए लाभकारी बताया गया है।

अरण्यं ते पृथ्वी स्योनमस्तु[7]

वर्तमान समय में पेड़ों की लगातार और अंधाधुंध कटाई के कारण वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2) की मात्रा तेजी से बढ़ रही है। इसके परिणामस्वरूप तापमान में वृद्धि हो रही है, जो पर्यावरण के लिए गंभीर खतरे का संकेत है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि के निर्माण हेतु कुछ मूल तत्व ही पर्याप्त हैं, और शेष समस्त वस्तुएँ इन्हीं से उत्पन्न होती हैं।सनातन परंपरा में पंचमहाभूतों को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ये तत्व न केवल भौतिक संसार के आधार हैं, बल्कि जीवन के संतुलन को बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
मत्स्य पुराण में वृक्षों को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है, यहाँ तक कि एक वृक्ष की तुलना मनुष्य के अनेक पुत्रों के समान की गई है।

"दशकूपसमावापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥"[8]

इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय परंपरा में वृक्षों को केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवनदाता के रूप में देखा जाता था।

हमारे ऋषि-मुनि भली-भाँति जानते थे कि पृथ्वी का संतुलन जल और वनस्पति पर आधारित है। इसी कारण उन्होंने पृथ्वी की सुरक्षा के लिए वृक्षों और जल को अत्यधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार वृक्षों से जल का संरक्षण होता है, जल से अन्न की उत्पत्ति होती है, और अन्न ही समस्त जीवों के जीवन का आधार है।

वनों को हमारे आचार्यों ने आनंद और शांति का स्रोत माना है। वे 'अरण्य' को ऐसा स्थान बताते हैं जो मनुष्य को आंतरिक संतुलन और सुख प्रदान करता है। यही कारण है कि भारतीय जीवन पद्धति में वर्णित चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—का गहरा संबंध वनों से जोड़ा गया है, जहाँ मनुष्य प्रकृति के समीप रहकर आत्मिक उन्नति प्राप्त करता है।

वेदों में पर्यावरण संरक्षण के उपाय : वैदिक ग्रंथों में जल, वायु और औषधियों के संरक्षण के महत्व पर विशेष जोर दिया गया है। अथर्ववेद में बताया गया है कि मनुष्य को अपने ज्ञान का उपयोग परमात्मा को ध्यान में रखकर करना चाहिए। जिस प्रकार जल, वायु और औषधियाँ पृथ्वी पर उत्पन्न होकर उसी के लिए उपयोगी होती हैं, उसी प्रकार इनके संरक्षण से ही पृथ्वी का संतुलन बना रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक तत्वों की रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। ऋग्वेद में भी जीव-जगत के सम्मान की बात कही गई है।

1. वायु संरक्षण : पर्वत, जल, वायु, वर्षा और अग्नि को ऐसे तत्व माना गया है जो पर्यावरण को शुद्ध बनाए रखते हैं और प्रदूषण को कम करते हैं। इसी संदर्भ में अथर्ववेद में कहा गया है—

"ये पर्वता: सोमपृष्ठा आपउत्तानशीवरी:।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्॥"[9]

(अर्थ: ये सभी तत्व मिलकर औषधि के समान पर्यावरण को शुद्ध करते हैं।)

अथर्ववेद के अनुसार वायु के दो प्रमुख रूप बताए गए हैं—प्राणवायु, जो शरीर में जीवन शक्ति का संचार करती है, और अपानवायु, जो शरीर से अशुद्धियों को बाहर निकालती है। इसी कारण वायु को "विश्व-भेषज" कहा गया है, क्योंकि यह अनेक रोगों को दूर करने में सहायक होती है।

2. जल संरक्षण : जल को जीवन का सबसे महत्वपूर्ण आधार माना गया है। बिना जल के जीवन की कल्पना भी संभव नहीं है, इसलिए प्राचीन समय से ही इसके संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। वेदों में जल को न केवल जीवनदायी तत्व माना गया है, बल्कि उसे शुद्ध, उपयोगी और संरक्षित रखने की प्रेरणा भी दी गई है। मनुष्य को यह समझाया गया है कि जल का उपयोग सोच-समझकर करना चाहिए और उसे व्यर्थ नहीं बहाना चाहिए। वेदों में विभिन्न प्रकार के जल स्रोतों का उल्लेख करते हुए उनके संरक्षण की बात कही गई है। इस संदर्भ में कहा गया है—

"या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति।
खनित्रिमा उत वा या स्वयंजाः॥"[10]

(अर्थ: जो जल वर्षा के रूप में प्राप्त होता है, जो धरती से खोदकर निकाला जाता है या जो स्वयं उत्पन्न होता है—इन सभी को एकत्र करना चाहिए।)

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि वर्षा जल, भूमिगत जल और अन्य सभी प्रकार के जल स्रोत मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, इसलिए उनका संरक्षण और संचय आवश्यक है। यह विचार आधुनिक जल संरक्षण पद्धतियों, जैसे वर्षा जल संचयन, से भी मेल खाता है।

जल को प्राचीन भारतीय ग्रंथों में "सर्वस्य भेषजी" अर्थात् सभी के लिए औषधि कहा गया है।जल न केवल जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि यह शरीर के विषैले तत्वों को बाहर निकालने, पाचन क्रिया को सुधारने और मानसिक संतुलन बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस अध्ययन का उद्देश्य जल के बहुआयामी लाभों को समझना और इसके संरक्षण की आवश्यकता को उजागर करना है।

"आप: सर्वस्यभेषजी:"

(अर्थ: जलसभीरोगों कीऔषधि है)

इसका आशय है कि जल को गंदा करना, उसे व्यर्थ बहाना या किसी भी प्रकार से नुकसान पहुँचाना गलत है। जल को स्वच्छ और सुरक्षित रखना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

अतः वेदों में जल के महत्व को समझाते हुए उसके संरक्षण, संचयन और उचित उपयोग पर विशेष बल दिया गया है, जो आज के समय में भी उतना ही प्रासंगिक है।

जल को गंदा करना केवल अनुचित ही नहीं, बल्कि प्राचीन समय में इसे दंडनीय अपराध भी माना जाता था। इस विषय में मनु ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"नाप्सु मूत्रं पुरीषं वाष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा च लोहितं वा विषाणि वा॥"[11]

अर्थात् जल में मूत्र, मल, गंदे पदार्थ, रक्त या विष आदि डालना पूर्णतः निषिद्ध है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जल को स्वच्छ बनाए रखना अत्यंत आवश्यक माना गया था।

इसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में भी जल की पवित्रता बनाए रखने पर जोर दिया गया है—

"नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात् न निष्ठीवेत्
न विवसनः स्नायात् गुह्यो वा इवोऽग्निः।"[12]

अर्थात् जल में गंदगी नहीं फैलानी चाहिए, उसमें थूकना या अनुचित व्यवहार करना भी वर्जित है। यह सब जल की शुद्धता को बनाए रखने के लिए आवश्यक नियम बताए गए हैं

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी जल संरक्षण और उसकी पवित्रता बनाए रखने पर विशेष बल दिया गया है। पद्मपुराण (क्रियायोग- 8.8.10) में जल को प्रदूषित करने के दुष्परिणामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

"मूत्रं वाथ पुरीषं वा गङ्गातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य जन्मकोटिशतैरपि।।[13]
उच्छिष्टं कफकं चैव गङ्गा गर्भे च यस्त्यजेत्।
स याति नरकं घोरं ब्रह्महत्यां च विन्दति॥"[14]

इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल से ही जल स्रोतों की स्वच्छता और संरक्षण को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है तथा जल प्रदूषण को गंभीर नैतिक अपराध के रूप में देखा गया है।

भूमि संरक्षण : प्राचीन भारतीय साहित्य में भूमि को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। समस्त जीव-जगत का आधार पृथ्वी ही है, इसलिए वेदों में इसे माता के समान पूजनीय माना गया है। पृथ्वी न केवल औषधियों और वनस्पतियों का स्रोत है, बल्कि यह विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक संपदाओं को भी अपने भीतर धारण करती है। इस कारण इसका संरक्षण करना मानव का कर्तव्य माना गया है।

वेदों में यह भी उल्लेख मिलता है कि पृथ्वी के साथ संतुलित और संवेदनशील व्यवहार किया जाना चाहिए। जहाँ भी भूमि को खोदा या उपयोग में लाया जाए, उसे पुनः यथासंभव भरकर संतुलन बनाए रखना चाहिए तथा उसके आंतरिक भागों को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए। इस संदर्भ में अथर्ववेद में कहा गया है—

"यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।"[15]

इसी प्रकार, पर्यावरणीय दृष्टि से यजुर्वेद में भी पृथ्वी के अनावश्यक दोहन से बचने की प्रेरणा दी गई है—

"पृथिवीं दंह पृथिवीं मा हिंसीः।"[16]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भी भूमि संरक्षण को अत्यंत आवश्यक माना गया था और मानव को प्रकृति के साथ संतुलन बनाए रखने की शिक्षा दी गई थी।

निष्कर्ष : उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा अत्यंत गहन, समग्र एवं दूरदर्शी रही है। यहाँ प्रकृति को केवल भौतिक संसाधन के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत, पवित्र एवं सहअस्तित्व पर आधारित सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। वेद, उपनिषद, पुराण एवं स्मृतियों में निहित विचार यह दर्शाते हैं कि मानव और प्रकृति के बीच संतुलन बनाए

रखना न केवल आवश्यक है, बल्कि यह एक नैतिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्य भी है।

आधुनिक युग में उत्पन्न पर्यावरणीय संकट—जैसे प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन और जैव-विविधता का क्षरण—मुख्यतः मानव की उपभोगवादी प्रवृत्ति और प्रकृति के प्रति असंवेदनशील दृष्टिकोण का परिणाम हैं। इसके विपरीत, भारतीय ज्ञान परम्परा संयम, संतुलन और संरक्षण पर आधारित जीवन शैली को अपनाने की प्रेरणा देती है, जो सतत विकास के सिद्धांतों से पूर्णतः सामंजस्य रखती है।

इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक एवं प्राचीन भारतीय साहित्य में जल, वायु, भूमि, वनस्पति और समस्त जीव-जगत के संरक्षण के लिए जो सिद्धांत एवं नियम निर्धारित किए गए थे, वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। यदि इन सिद्धांतों को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और नीतियों के साथ समन्वित किया जाए, तो वर्तमान पर्यावरणीय संकट का प्रभावी समाधान संभव हो सकता है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में निहित पर्यावरणीय मूल्यों को केवल सैद्धांतिक रूप में न रखकर, उन्हें व्यावहारिक जीवन में अपनाया जाए। इसके माध्यम से न केवल पर्यावरण का संरक्षण सुनिश्चित किया जा सकता है, बल्कि मानव और प्रकृति के बीच संतुलित एवं सतत संबंध की पुनर्स्थापना भी संभव है।

सन्दर्भ :

1. अथर्ववेद 12.1.12
2. अथर्ववेद 12.1.30
3. अथर्ववेद 12.1.52
4. अथर्ववेद 1.6.1
5. ऋग्वेद 1.23.15
6. ऋग्वेद 10.128.2
7. अथर्ववेद 12.1.11
8. मत्स्य पुराण 154.512
9. अथर्ववेद 3.21.10
10. ऋग्वेद 7.49.2
11. मनुस्मृति 4.56
12. तैत्तिरीय आरण्यक
13. पद्मपुराण क्रियाखण्ड 8.8
14. पद्मपुराण क्रियाखण्ड 8.10
15. अथर्ववेद 12.1.35
16. यजुर्वेद 13.18

•